

भारत छोड़ो आंदोलन की 80वीं सालगिरह के अवसर पर

अगस्त क्रांति और भारत का शासक-वर्ग

प्रेम सिंह

(यह विशेष लेख 2012 में भारत छोड़ो आंदोलन अथवा अगस्त क्रांति की 70वीं सालगिरह के अवसर पर लिखा गया था, और 'युवा संवाद' एवं 'हस्तक्षेप डॉट कॉम' में प्रकाशित हुआ था। इसमें भारत छोड़ो आंदोलन की वास्तविक प्रेरणा, तथ्यों और उसमें हिस्सेदारी करने वाली भारतीय जनता और नेताओं का समुचित उल्लेख करने की कोशिश की गई थी।

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने अगस्त क्रांति की 75वीं सालगिरह पर 'मन की बात' कार्यक्रम में और भाजपा सरकार ने अपने 'संकल्प से सिद्धि' अभियान में भारत छोड़ो आंदोलन का खोखला हवाला दिया था। राम पुनियानी ने इस विषय पर जवाबी लेख - 'हाउ टू रिवाइव द स्पिरिट ऑफ़ क्विट इंडिया मूवमेंट' (पीपल्स वॉइस, 21 अगस्त 2017) लिखा था, जिसका हिंदी अनुवाद भी छपा था। हालांकि पुनियानी जी ने भी अपने लेख में भारत छोड़ो आंदोलन की वास्तविक प्रेरणा, चरित्र और तथ्यों का समुचित उल्लेख नहीं किया।

आरएसएस आधुनिक भारत के राष्ट्रीय इतिहास की धारा के बाहर पड़ी रह जाने वाली मानसिकता से परिचालित होता है। लिहाजा, उसका राष्ट्रीय महत्व की विभूतियों, विचारों, घटनाओं के साथ सार्थक रिश्ता नहीं जुड़ पाता। यह उसकी मौलिक अक्षमता बनी हुई है, जिससे उबरने की इच्छा-शक्ति राजनीतिक सत्ता पाने के बाद भी दिखाई नहीं देती। इसीलिए आरएसएस राष्ट्रीय इतिहास, भारतीय संविधान और महत्वपूर्ण हस्तियों के साथ बेहूदा किस्म का बर्ताव और तोड़-मरोड़ करता है। लेकिन आरएसएस का विरोधी पक्ष जब राष्ट्रीय इतिहास के तथ्यों को नज़रंदाज़ करता है, तो उससे आरएसएस की मदद होती है।

अगस्त क्रांति की 80वीं सालगिरह के मौके पर लेख मामूली संपादन के साथ फिर से जारी किया गया है। आशा है युवा साथी समय निकाल कर लेख पढ़ेंगे और शासक-वर्ग द्वारा लादी जा रही नव-साम्राज्यवादी गुलामी के प्रश्न पर विचार करेंगे। पहली बार लेख का अंग्रेजी अनुवाद भी जारी किया गया है।

आजादी की इच्छा का विस्फोट

“यह एक छोटा-सा मंत्र मैं आपको देता हूँ। आप इसे हृदयपटल पर अंकित कर लीजिए और हर श्वास के साथ उसका जाप कीजिए। वह मंत्र है - ‘करो या मरो’। या तो हम भारत को आजाद करेंगे या आजादी की कोशिश में प्राण दे देंगे। हम अपनी आंखों से अपने देश का सदा गुलाम और परतंत्र बना रहना नहीं देखेंगे। प्रत्येक सच्चा कांग्रेसी, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, इस दृढ़ निश्चय से संघर्ष में शामिल होगा कि वह देश को बंधन और दासता में बने रहने को देखने के लिए जिंदा नहीं रहेगा। ऐसी आपकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए।” (अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में दिए गए गांधीजी के भाषण का अंश)

डॉ. राममनोहर लोहिया ने 2 मार्च 1946 को भारत के वायसराय लार्ड लिनलिथगो को एक लंबा पत्र लिखा था। वह पत्र महत्वपूर्ण है, और गांधीजी ने उसकी सराहना की थी। पत्र ब्रिटिश साम्राज्यवाद के क्रूर और षडयंत्रकारी चरित्र को सामने लाता है। लोहिया ने वह पत्र जेल से लिखा था। भारत छोड़ो आंदोलन में इक्कीस महीने तक भूमिगत भूमिका निभाने के बाद लोहिया को बंबई में 10 मई 1944 को गिरफ्तार किया गया। पहले लाहौर किले में, और फिर आगरा में उन्हें कैद रखा गया। लाहौर जेल में ब्रिटिश पुलिस ने उन्हें अमानुषिक यंत्रणाएं दीं। दो साल कैद रखने के बाद जून 1946 में लोहिया को छोड़ा गया। इस बीच उनके पिता का निधन हुआ, लेकिन लोहिया ने छुट्टी पर जेल से बाहर आना गवारा नहीं किया। उनकी अनुपस्थिति में ही पिता की अंत्येष्टि हुई।

वायसराय महोदय ने कांग्रेस नेताओं पर भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान सशस्त्र बगावत की योजना बनाने, और आंदोलन में बड़े पैमाने पर हिंसा लेने वाली जनता पर हिंसक गतिविधियों में शामिल होने का आरोप लगाया था। उस समय के तीव्र वैश्विक घटनाक्रम और बहस के बीच वायसराय यह दिखाने की कोशिश कर रहे थे कि ब्रिटिश शासन अत्यंत न्यायप्रिय व्यवस्था है, और उसका विरोध करने वाली कांग्रेस व भारतीय जनता हिंसक और निरंकुश। आजादी मिलने में केवल साल-दो साल बचा था, लेकिन ब्रिटिश वायसराय ऐसा जता रहे थे, मानो भारत पर हमेशा के लिए शासन करने का उनका जन्मसिद्ध अधिकार बना हुआ है!

पत्र में लोहिया ने वायसराय के आरोपों का खंडन करते हुए निहत्थी जनता पर ब्रिटिश हुकूमत के भीषण अत्याचारों को सामने रखा। उन्होंने कहा कि आंदोलन का दमन करते वक्त देश में कई जलियांवाला बाग घटित हुए, लेकिन भारत की जनता ने दैवीय साहस का परिचय देते हुए अपनी आजादी का अहिंसक संघर्ष किया। लोहिया ने वायसराय के उस बयान को भी गलत बताया जिसमें उन्होंने भारत छोड़ो आंदोलन में एक हजार से भी कम लोगों के मारे जाने की

बात कही। लोहिया ने वायसराय को कहा कि उन्होंने असलियत में पचास हजार देशभक्तों को मारा है। उन्होंने कहा कि यदि उन्हें देश में स्वतंत्र घूमने की छूट मिले, तो वे इसका प्रमाण सरकार को दे सकते हैं। लोहिया ने पत्र में लिखा, “श्रीमान लिनलिथगो, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि हमने सशस्त्र बगावत की योजना बनाई होती, लोगों से हिंसा अपनाने के लिए कहा होता, तो आज गांधीजी स्वतंत्र जनता और उसकी सरकार से आपके प्राणदंड को रुकवाने के लिए कोशिश कर रहे होते।”

लोहिया ने वायसराय को उनका बर्बर चेहरा दिखाते हुए लिखा, “आपके आदमियों ने भारतीय माताओं को नंगा कर, पेड़ों से बांध, उनके अंगों से छेड़छाड़ कर जान से मारा। आपके आदमियों ने उन्हें जबरदस्ती सड़कों पर लिटा-लिटा कर उनके साथ बलात्कार किए और जानें लीं। आप फासिस्ट प्रतिशोध की बात करते हैं, जबकि आपके आदमियों ने पकड़ में न आ पाने वाले देशभक्तों की औरतों के साथ बलात्कार किए और उन्हें जान से मारा। वह समय शीघ्र ही आने वाला है जब आप और आपके आदमियों को इसका जवाब देना होगा।” कुर्बानियों की कीमत रहती है, इस आशा से भरे हुए लोहिया ने अलबत्ता व्यथित करने वाले उन क्षणों में वायसराय को आगे लिखा, “लेकिन मैं नाखुश नहीं हूँ। दूसरों के लिए दुख भोगना और मनुष्य को गलत रास्ते से हटा कर सही रास्ते पर लाना तो भारत की नियति रही है। निहत्थे आम आदमी के इतिहास की शुरुआत 9 अगस्त की भारतीय क्रांति से होती है।”

हालांकि स्वयं कांग्रेस के कई बड़े नेता ‘फासिस्ट’ शक्तियों के खिलाफ युद्ध में फंसे ‘लोकतंत्रवादी’ इंग्लैंड को परेशानी में डालने पर अंत तक दुविधाग्रस्त बने रहे। उनका जिक्र लोहिया ने अपने पत्र में किया है। लेकिन खुद लोहिया को अंग्रजों को बाहर खदेड़ने के फैसले पर कोई दुविधा नहीं थी। उन ‘आधुनिकतावादियों’ जैसी दुविधा उनमें भी होती, तो वे साम्राज्यवादी सत्ता के खिलाफ जनता के संघर्ष में पूरी निष्ठा और शक्ति से नहीं रम पाते। उन्होंने स्पष्ट किया, “हम भविष्य के प्रति जिज्ञासु हैं। चाहे जीत आपकी हो या धुरी शक्ति की, उदासी और अंधकार चारों ओर बना रहेगा। आशा की मात्र एक ही टिमटिमाहट है। स्वतंत्र भारत इस लड़ाई को प्रजातांत्रिक समापन की ओर ले जा सकता है।” (देखें, ‘कलेक्टेड वर्क्स ऑफ डॉ. राममनोहर लोहिया’ खंड 9, संपा. मस्तराम कपूर, पृ. 176-181)

दरअसल, लोहिया दुनिया में स्थायी शांति कायम करने की दिशा में चार-सूत्री योजना का सुझाव रखते हुए 1939 में ही युद्ध के विरोध में गांधी जी से सत्याग्रह आंदोलन शुरू करने का आग्रह कर चुके थे। ये चार सूत्र थे : सभी पराधीन देशों की स्वाधीनता और उनमें वयस्क मताधिकार द्वारा स्वराज पंचायतों द्वारा संविधान निर्माण, किसी भी देश को कोई विशेषाधिकार न रहे और

हर व्यक्ति को बिना पूर्व अनुमति के मनचाहे देश में निवास करने की स्वतंत्रता, किसी भी देश द्वारा अन्य देश में संपत्ति अर्जित करने अथवा पूंजी लगाने की मनाही और संपूर्ण निरस्त्रीकरण। गांधीजी ने लोहिया की योजना को तुरंत स्वीकृति दी, लेकिन तत्काल सत्याग्रह आंदोलन शुरू करने का आग्रह स्वीकार नहीं किया।

लोहिया की जीवनीकार इंदुमति केलकर ने लिखा है, “मार्च 1939 में, युद्ध के विरोध में लिखे अपने एक लेख में लोहिया ने अपनी भूमिका स्पष्ट करते हुए लिखा था, ‘गुलाम भारत की दृष्टि में जितनी पापी ब्रिटिश साम्राज्यशाही है, उतनी पापी जर्मनी की हिटलरशाही और जापान की साम्राज्यशाही है। बिना साम्राज्यशाही को समाप्त किए संसार सुरक्षित नहीं हो पाएगा। ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने ही फासिज्म को पाल-पोस कर बढ़ा किया है। इसलिए भारत को चाहिए कि वह फासिज्म और साम्राज्यशाही, दोनों के विरोध में लड़े, तभी संसार के पराधीन देशों का वह सहायक बनेगा।’ इसी समय लोहिया ने युद्ध कर, युद्ध कर्ज और सैनिक भरती जैसे उपक्रमों का विरोध करने का उपाय भी सुझाया था।” (‘राममनोहर लोहिया’ (संक्षिप्त संस्करण), इंदुमति केलकर, पृ. 32)

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में अगस्त क्रांति के नाम से मशहूर भारत छोड़ो आंदोलन का करीब तीन-चार साल का दौर अत्यंत महत्वपूर्ण होने के साथ पेचीदा भी है। यह आंदोलन देश-व्यापी था, जिसमें बड़े पैमाने पर भारत की जनता ने हिस्सेदारी की और अभूतपूर्व साहस और सहनशीलता का परिचय दिया। लोहिया ने रूसी क्रांतिकारी चिंतक लियोन ट्राट्स्की के हवाले से लिखा है कि रूस की क्रांति में वहां की एक प्रतिशत जनता ने हिस्सा लिया, जबकि भारत की अगस्त क्रांति में देश के 20 प्रतिशत लोगों ने हिस्सेदारी की। (देखें, ‘कलेक्टेड वर्क्स ऑफ डॉ. राममनोहर लोहिया’ खंड 9, संपा. मस्तराम कपूर, पृ. 129)

हालांकि जनता का विद्रोह पहले तीन-चार महीनों तक ही तेजी से हुआ। नेतृत्व व दूरगामी योजना के अभाव तथा अंग्रेज सरकार के दमन ने विद्रोह को दबा दिया। 8 अगस्त 1942 को ‘भारत छोड़ो’ प्रस्ताव पारित हुआ; अरुणा आसफ अली ने गोवालिया टैंक मैदान पर तिरंगा फहराया; और 9 अगस्त की रात को कांग्रेस के बड़े नेता गिरफ्तार कर लिए गए। नेताओं की गिरफ्तारी के चलते आंदोलन की सुनिश्चित कार्य-योजना नहीं बन पाई थी। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का अपेक्षाकृत युवा नेतृत्व सक्रिय था, लेकिन उसे भूमिगत रह कर काम करना पड़ रहा था। जयप्रकाश नारायण (जेपी) ने क्रांतिकारियों का मार्गदर्शन और हौसला अफजायी करने तथा आंदोलन का चरित्र और तरीका स्पष्ट करने वाले दो लंबे पत्र अज्ञात स्थानों से लिखे। भारत छोड़ो आंदोलन के महत्व का एक पक्ष यह भी है कि आंदोलन के दौरान जनता खुद अपनी नेता थी।

भारत छोड़ो आंदोलन की कई विशेषताएं हैं। कई चरणों और नेतृत्व से गुजरे भूमिगत क्रांतिकारी आंदोलन और गांधी के नेतृत्व में चले जनता के अहिंसक आंदोलन का मिलन भारत छोड़ो आंदोलन में होता है। दोनों की समानता और फर्क के बिंदुओं को लेकर 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के साथ भी भारत छोड़ो आंदोलन के सूत्र जोड़े जा सकते हैं। भारत छोड़ो आंदोलन हिंसक था या अहिंसक, इस सवाल को लेकर काफी बहस हुई है। गांधी, जिन्होंने 'करो या मरो' का नारा दिया, और जिन्हें उसी रात गिरफ्तार कर लिया गया, ने जनता से अहिंसक आंदोलन का आह्वान किया था। जब दुनिया दूसरे विश्वयुद्ध की हिंसा में फंसी थी, गांधीजी का यह एक अनूठा अहिंसक आह्वान था।

जेपी ने गुप्त स्थानों से 'आजादी के सैनिकों के नाम' दो पत्र क्रमशः दिसंबर 1942 और सितंबर 1943 में लिखे। अपने दोनों पत्रों में, विशेषकर पहले में, उन्होंने हिंसा-अहिंसा के सवाल को विस्तार से उठाया। हिंसा-अहिंसा के मामले पर गांधी और कांग्रेस का मत अलग-अलग है, यह उन्होंने अपने पत्र में कहा। उन्होंने अंग्रेज सरकार को लताड़ लगाई कि उसे यह बताने का हक नहीं है कि भारत की जनता अपनी आजादी की लड़ाई का क्या तरीका अपनाती है। उन्होंने कहा कि भारत छोड़ो आंदोलन के मूल में हत्या नहीं करने और चोट नहीं पहुंचाने का संकल्प है।

उन्होंने लिखा, "अगर हिंदुस्तान में हत्याएं हुईं - और बेशक हुईं - तो उनमें से 99 फीसदी ब्रिटिश फासिस्ट गुंडों द्वारा और केवल एक फीसदी क्रोधित और क्षुब्ध जनता के द्वारा। हर अहिंसात्मक तरीके से अंग्रेजी राज के लिए जिच पैदा करना, उसे पंगु बना कर उखाड़ फेंकना ही उस प्रोग्राम का मूल मंत्र है और 'अहिंसा के दायरे में सब कुछ कर सकते हो' यही है हमारा धुवतारा। इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं कि जिस प्रोग्राम पर 1942 के अगस्त से अब तक कांग्रेस संस्थाओं ने अमल किया है उसका बौद्धिक आधार अहिंसा है - उस अर्थ में अहिंसा, जैसा उसके अधिकारी पुरुषों ने इस अर्थ में बताया है।" ('नया संघर्ष', अगस्त क्रांति विशेषांक, अगस्त-सितंबर 1991, पृ. 31)

भारत छोड़ो आंदोलन में अहिंसा-हिंसा के सवाल पर जनता से लेकर नेताओं तक जो विमर्श उस दौरान हुआ, उसका विश्लेषण होना बाकी है। हिंसा के पर्याय और उसकी पराकाष्ठा पर समाप्त होने वाले दूसरे विश्वयुद्ध के बीच एक अहिंसक आंदोलन का संभव होना निश्चित ही गंभीर विश्लेषण की मांग करता है। यह विश्लेषण इसलिए जरूरी है कि भारत का अधिकांश बौद्धिक वर्ग 1857 और 1942 की हिंसा का केवल भारतीय पक्ष देखता है, और उसकी निंदा करने में कभी नहीं चूकता। केवल और हर तरह की हिंसा के बल पर तीन-चौथाई दुनिया को गुलाम बनाने वाले उपनिवेशवादियों को 'सभ्य' और 'प्रगतिशील' मानता है।

भारत छोड़ो आंदोलन दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान हुआ। लिहाजा, उसका एक अंतरराष्ट्रीय आयाम भी था। आंदोलन के अंतरराष्ट्रीय पहलू का इतना दबदबा था कि विश्वयुद्ध में अंग्रेजों का साथ देने के औचित्य और भारत की आजादी को विश्वयुद्ध में हुए अंग्रेजों के नुकसान का नतीजा बताने के तर्क भारत में आज तक चलते हैं। ऐसे अंतरराष्ट्रीयतावादियों के लिए आजादी के लिए स्थानीय भारतीय जनता का संघर्ष ज्यादा मायने नहीं रखता। आज जो भारतीय जनता की खस्ता हालत है, उसमें आजादी के इस तरह के मूल्यांकनों का बड़ा हाथ है। हालांकि, इसकी जड़ें और गहरी जाती हैं।

नेताजी सुभाष चंद्र बोस का आजाद हिंद फौज बना कर अंग्रेजों को बाहर करने के लिए किया गया संघर्ष भी भारत छोड़ो आंदोलन के पेटे में आता है। अंग्रेजों और स्थानीय विभाजक शक्तियों द्वारा देश के विभाजन की बिसात बिछाई जाने का काम भी इसी दौरान पूरा हुआ। जेपी ने इन सब पहलुओं पर अपने पत्रों में रोशनी डाली है। उन पत्रों को एक बार फिर से देखा जाना चाहिए। भारत छोड़ो आंदोलन देश की आजादी के लिए चले समग्र आंदोलन, जैसा भी भला-बुरा वह रहा हो, का निर्णायक निचोड़ था; भारत की आजादी का प्रवेशद्वार था। विभिन्न स्रोतों से आजादी की जो इच्छा, और उसे हासिल करने की जो ताकत भारत में बनी थी, उसका अंतिम प्रदर्शन भारत छोड़ो आंदोलन में हुआ। भारत छोड़ो आंदोलन ने यह निर्णय किया कि आजादी की इच्छा में भले ही नेताओं का भी साझा रहा हो, उसे हासिल करने की ताकत निर्णायक रूप से जनता की थी। हालांकि अंग्रेजी शासन को नियामत मानने वाले और अपना स्वार्थ साधने वाले तत्व भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान भी पूरी तरह सक्रिय थे। वे कौन थे, इसकी जानकारी जेपी के पत्रों से मिलती है।

यह ध्यान देने की बात है कि गांधीजी ने आंदोलन को समावेशी बनाने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में दिए अपने भाषण में समाज के सभी तबकों को संबोधित किया था - जनता, पत्रकार, नरेश, सरकारी अमला, सैनिक, विद्यार्थी। उन्होंने अंग्रेजों, यूरोपीय देशों, एशियाई देशों, मित्र राष्ट्रों के नेतृत्व और यूएन को भी अपने उस भाषण में संबोधित किया था। किसी देश की जनता और विश्व को संबोधित वह दुनिया का संभवतः सर्वश्रेष्ठ भाषण कहा जा सकता है। सभी तबकों और समूहों से देश की आजादी के लिए 'करो या मरो' के व्यापक आह्वान का आधार उनका पिछले 25 सालों के संघर्ष का अनुभव था। भारत छोड़ो आंदोलन का गांधी का निर्णय भारत और विश्व के स्तर पर एक सम्पूर्ण दृष्टि पर आधारित था। जबकि जिन नेताओं/संगठनों ने भारत छोड़ो आंदोलन का विरोध किया, वे सभी खंडित दृष्टि का प्रतिनिधित्व करने वाले थे।

किसी समाज एवं सभ्यता की बड़ी घटना का प्रभाव साहित्य रचना पर पड़ता है। 1857 का पहला स्वतंत्रता संग्राम भारत की एक बड़ी घटना थी। अंग्रेजों का डर कह लीजिए या भक्ति, 1857 का संघर्ष लंबे समय तक साहित्यकारों की कल्पना से बाहर बना रहा। जबकि भारत छोड़ो आंदोलन ने रचनात्मक कल्पना (क्रियेटिव इमेजिनेशन) को तत्काल और बड़े पैमाने पर आकर्षित किया। विभाजन साहित्य (पार्टीशन लिटरेचर) के बाद भारतीय साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना के रूप में भारत छोड़ो आंदोलन का चित्रण रहा है। इसका कारण लगता है कि गांधी के राजनैतिक कर्म और विचारों ने पूंजीवाद के आकर्षण को भारतीय भद्रलोक के मानस से कुछ हद तक काटा था; और जनता के संघर्ष की बदौलत आजादी लगभग आ चुकी थी।

माक्सवादी लेखकों ने भी भारत छोड़ो आंदोलन को विषय बना कर उपन्यास लिखे। हिंदी में यशपाल, जो अपने साहित्य को माक्सवादी विचारधारा के प्रचार का माध्यम मानते थे, ने आंदोलन के दौरान ही दो उपन्यास - 'देशद्रोही' (1943) और 'गीता पार्टी कामरेड' (1946) - लिखे। यह ध्यान देने की बात है कि भारत छोड़ो आंदोलन अपने ढंग के विशिष्ट राजनीतिक उपन्यासकार यशपाल का देर तक पीछा करता है। यशपाल सशस्त्र क्रांतिकारी आंदोलन में सक्रिय रहे थे। उन्होंने अपने अंतिम महाकाय उपन्यास 'मेरी तेरी उसकी बात' (1979) में एक बार फिर भारत छोड़ो आंदोलन का विस्तार से चित्रण किया।

सोवियत रूस के दूसरे विश्वयुद्ध में शामिल होने पर भारत के माक्सवादी नेतृत्व ने भारत छोड़ो आंदोलन का विरोध और अंग्रेजों का साथ देने का फैसला किया। वह कांग्रेस समाजवादियों और माक्सवादियों के बीच कटु टकराहट का कारण तो बना ही, उस निर्णय के चलते माक्सवादी कार्यकर्ता देशभक्ति और देशद्रोह की परिभाषा व कसौटी को लेकर भ्रमित हुए। यशपाल ने अपने तीनों उपन्यासों में माक्सवादी कथानायकों को 'देशभक्त' सिद्ध किया है। सतीनाथ भादुड़ी का 'जागरी' (1945), बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य का 'मृत्युंजय' (1970), समरेश बसु का 'जुग जुग जियो' (चार खंड, 1977) जैसे अत्यंत महत्वपूर्ण उपन्यासों के अलावा भारतीय भाषाओं में, भारतीय अंग्रेजी उपन्यास सहित, कई उपन्यास भारत छोड़ो आंदोलन की घटना पर लिखे गए, या उनमें उस घटना का जिक्र आया है। फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल' (1954) का समय करीब आजादी के एक साल पहले और एक साल बाद का है। उनके इस कालजयी उपन्यास पर भारत छोड़ो आंदोलन की गहरी छाया व्याप्त है।

भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान भूमिगत अवस्था के अंतिम महीनों में लोहिया ने अपना लंबा लेख 'इकोनॉमिक्स आफ्टर माक्स' - माक्सोत्तर अर्थशास्त्र - लिखा। इंदुमति केलकर लिखती हैं, "भूमिगत जीवन की अस्थिरता, लगातार पीछे पड़ी पुलिस, आंदोलन के भविष्य की चिंता, संदर्भ

साहित्य की कमी के बावजूद लोहिया का लिखा प्रस्तुत प्रबंध विश्व भर के आर्थिक विचार और समाजवादी आंदोलन को दी गई बहुत बड़ी देन समझी जाती रही है। अपने प्रबंध में लोहिया ने मार्क्स के अर्थशास्त्र और उसके निष्कर्षों की बहुत ही मौलिक और बिल्कुल नए सिरे से व्याख्या प्रस्तुत की है।” (‘राममनोहर लोहिया’ (संक्षिप्त संस्करण), इंदुमति केलकर, पृ. 45)

इंदुमति केलकर ने इस लेख के उद्देश्य के बारे में लोहिया को उद्धृत किया है: “1942-43 की अवधि में ब्रिटिश सत्ता के विरोध में जो क्रांति आंदोलन चला उस समय समाजवादी जन या तो जेल में बंद थे या पुलिस पीछे पड़ी हुई थी। यह वह समय भी है जब कम्युनिस्टों ने अपने विदेशी मालिकों की हां में हां मिलाते हुए ‘लोक-युद्ध’ का ऐलान किया था। परस्पर विरोधी पड़ने वाली कई असंगतियों से ओतप्रोत मार्क्सवाद के प्रत्यक्ष अनुभवों और दर्शनों से मैं चकरा गया और इसी समय मैंने तय किया कि मार्क्सवाद के सत्यांश की तलाश करूंगा, असत्य को मार्क्सवाद से अलग करूंगा। अर्थशास्त्र, राज्यशास्त्र, इतिहास और दर्शनशास्त्र, मार्क्सवाद के चार प्रमुख आयाम रहे हैं। इनका विश्लेषण करना भी मैंने आवश्यक समझा। परंतु अर्थशास्त्र का विश्लेषण जारी ही था कि मुझे पुलिस पकड़ कर ले गई।” (‘राममनोहर लोहिया’ (संक्षिप्त संस्करण), इंदुमति केलकर, पृ. 45)

जाहिर है, मार्क्सवाद को अटल सार्वभौमिक जीवन-दर्शन मानने वाले भारत के पार्टी कम्युनिस्टों को लोहिया की ये टिप्पणी और ‘इकोनॉमिक्स आफ्टर मार्क्स’ निबंध उस समय नागवार गुजरे होंगे। इसकी एक झलक दूधनाथ सिंह के महत्वपूर्ण उपन्यास ‘आखिरी कलाम’ (2006) में देखने को मिलती है। उपन्यास में बाबरी मस्जिद ध्वंस की परिस्थितियों का सजीव चित्रण हुआ है। लेकिन उपन्यास का समय चालीस के दशक, यानी भारत छोड़ो आंदोलन तक पीछे लौटता है। कथानायक कम्युनिस्ट पार्टी का सिद्धांतकार एक प्रोफेसर है। उसके हवाले से लेख पर कम्युनिस्ट प्रतिक्रिया का यह ब्योरा आया है कि लोहिया ने ऐसा लेख लिखने की हिमाकत कैसे की! बहरहाल, घटना से लेकर अभी तक उपन्यासों में भारत छोड़ो आंदोलन के चित्रण या प्रभाव की परिघटना दर्शाती है कि भारत छोड़ो आंदोलन राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण होने के साथ हमारी जातीय स्मृति का हिस्सा भी है।

भारत छोड़ो आंदोलन का जो भी घटनाक्रम, प्रभाव और विवाद रहे हों, मूल बात थी भारत की जनता की लंबे समय से पल रही आजादी की इच्छा - will to freedom - का विस्फोट। भारत छोड़ो आंदोलन के दबाव में भारत के आधुनिकतावादी मध्य-वर्ग से लेकर सामंती नरेशों तक को यह लग गया था कि अंग्रेजों को अब भारत छोड़ना होगा। अतः अपने वर्ग-स्वार्थ को बचाने और मजबूत करने की फिक्र उन्हें लगी। नौकरशाही/प्रशासन का लौह-शिकंजा और उसे चलाने वाली

भाषा तो अंग्रेजों की बनी ही रही; विकास का मॉडल भी वही रखा गया। भारत का 'लोकतांत्रिक, समाजवादी व धर्मनिरपेक्ष' संविधान भी पूंजीवाद और सामंतवाद के गठजोड़ की छाया से पूरी तरह नहीं बच पाया। अंग्रेजों के वैभव और रौब-दाब की विरासत, जिससे भारत की जनता के दिलों में भय बैठाया जाता था, भारत के शासक-वर्ग ने अपनाए रखी। वह उसे उत्तरोत्तर मजबूत भी करता चला गया।

गरीबी, मंहगाई, बीमारी, बेरोजगारी, शोषण, कुपोषण, विस्थापन और आत्महत्याओं का मलबा बने हिंदुस्तान में शासक-वर्ग का वैभव अश्लील ही कहा जा सकता है। भारत छोड़ो आंदोलन का एक सबक यह भी है कि सेवाग्राम और साबरमती आश्रम के छोटे और कच्चे कक्षों में बैठ कर गांधी को दुनिया की सबसे बड़ी साम्राज्यशाही से राजनीतिक-कूटनीतिक संवाद करने में असुविधा नहीं हुई। अपना चिंतन/लेखन/आंदोलन करने में भी नहीं। गांधी का आदर्श यदि सही नहीं था, तो शासक-वर्ग सादगी का कोई और आदर्श सामने रख सकता था। बशर्ते वैसी इच्छा होती। पिछले दो दशकों से जो अश्लील पूंजीवाद देश में चल रहा है, उसके तहत एक के बाद एक विलासिता के टापू खड़े करने का शासक-वर्ग पर जैसे खब्त सवार हो चुका है।

वायसराय के आदमी

लोहिया ने आजाद भारत के शासक-वर्ग और शासन-तंत्र की सतत और विस्तृत आलोचना की है। वे उसे कमोबेश अंग्रेजी राज का विस्तार बताते थे। लोहिया को लगता रहा होगा कि उनकी आलोचना से शासक-वर्ग का चरित्र बदलेगा; तदनु रूप शासन-तंत्र में परिवर्तन आएगा; और भारत की अवरुद्ध क्रांति आगे बढ़ेगी। हालांकि, संसद और उसके बाहर जनता के पक्ष में उनका संघर्ष शासक-वर्ग की 'प्रतिष्ठा' को नहीं हिला पाया। आज जब हम अगस्त क्रांति की सत्तरवीं सालगिरह मनाने जा रहे हैं, तो सोचें - किस लिए? क्या हम जनता का पक्ष मजबूत करना चाहते हैं? या स्वतंत्रता आंदोलन के प्रेरणा प्रतीकों, प्रसंगों और विभूतियों का उत्सव मना कर, उनके सार-तत्व को नष्ट कर देना चाहते हैं?

नवउदारवाद के विरोध की किसी भी प्रेरणा को नष्ट/विकृत करने की प्रवृत्ति भारत में जोर-शोर से चल रही है। 1857 के डेढ़ सौवें साल पर कांग्रेस ने दिल्ली से मेरठ और मेरठ से दिल्ली के बीच क्रांति यात्रा का आयोजन किया था। धूमधाम से किए गए उस बड़े सरकारी आयोजन में कई नवउदारवाद विरोधी बुद्धिजीवियों और एक्टिविस्टों ने शिरकत की। देश की संवैधानिक संप्रभुता समेत उसके समस्त संसाधनों और श्रमशक्ति को नवसाम्राज्यवादी ताकतों का ग्रास बना देने वाले प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने मेरठ से लौटे क्रांति यात्रियों का लाल किले पर स्वागत किया

था। यह कटूकित है, लेकिन इससे कम कुछ नहीं कहा जा सकता कि 1857 के शहीदों का इससे बड़ा अपमान नहीं हो सकता था!

डेढ़ सौवीं वर्षगांठ के अवसर पर दो वर्षों तक सरकार ने पैसा भी खूब बांटा। पैसा देखते ही बुद्धिजीवियों में भी जोश आ जाता है। जिन्होंने 1857 पर कभी एक पंक्ति न पढ़ी थी, न लिखी थी, ऐसे बहुत-से विद्वान सभा-सेमिनारों में सक्रिय हो गए। मार्क्सवादियों ने इस बार कुछ ज्यादा जोर-शोर से 1857 का जश्न मनाया। लेकिन साथ ही उनके नेतृत्व ने यह भी कह दिया कि पूंजीवाद के अलावा विकास का कोई रास्ता नहीं है। यानी मान्यता वही पुरानी रही - अपनी आजादी के लिए लड़ने वाले पिछड़ी/सामंती शक्तियां थे, और उन्हें गुलाम बनाने वाले अंग्रेज आगे बढ़ी हुई। ऐसे में पिछड़ी और सामंती शक्तियों का हारना तय था। आज तक भारत का मार्क्सवादी और आधुनिकतावादी दिमाग, 1857 का उत्सव चाहे जितना मना ले, आजादी की इच्छा में अपने प्राणों पर खेल जाने वालों की हिमाकत को माफ नहीं करता है। उनके हिसाब से यह देश अंधकूप था और अंग्रेज न आते तो अंधकूप ही रह जाता। यह अकेले नब्बे के दशक का फैसला नहीं है कि भारत की राजनीति के सारे रास्ते कारपोरेट पूंजीवाद की ओर जाते हैं!

लोहिया ने भारत छोड़ो आंदोलन की पच्चीसवीं वर्षगांठ पर लिखा, “नौ अगस्त का दिन जनता की महान घटना है और हमेशा बनी रहेगी। पंद्रह अगस्त राज्य की महान घटना थी। लेकिन अभी तक हम 15 अगस्त को धूमधाम से मनाते हैं क्योंकि उस दिन ब्रिटिश वायसराय माउंटबैटन ने भारत के प्रधानमंत्री के साथ हाथ मिलाया था और क्षतिग्रस्त आजादी क्षतिग्रस्त देश को दी थी। नौ अगस्त जनता की इस इच्छा की अभिव्यक्ति थी - हमें आजादी चाहिए और हम आजादी लेंगे। हमारे लंबे इतिहास में पहली बार करोड़ों लोगों ने आजादी की अपनी इच्छा जाहिर की। कुछ जगहों पर इसे जोरदार ढंग से प्रकट किया गया।”

पच्चीस साल की दूरी से देखने पर लोहिया ने उस आंदोलन की कमजोरी - सतत दृढ़ता की कमी - पर अंगुली रखी। वे लिखते हैं, “लेकिन यह इच्छा थोड़े समय तक ही रही, लेकिन मजबूत रही। उसमें दीर्घकालिक तीव्रता नहीं थी। जिस दिन हमारा देश दृढ़ इच्छा प्राप्त कर लेगा उस दिन हम विश्व का सामना कर सकेंगे। बहरहाल, यह 9 अगस्त 1942 की पच्चीसवीं वर्षगांठ है। इसे अच्छे तरीके से मनाया जाना चाहिए। इसकी पचासवीं वर्षगांठ इस प्रकार मनाई जाएगी कि 15 अगस्त भूल जाए, बल्कि 26 जनवरी भी पृष्ठभूमि में चला जाए या उसकी समानता में आए। 26 जनवरी और 9 अगस्त एक ही श्रेणी की घटनाएं हैं। एक ने आजादी की इच्छा की अभिव्यक्ति की और दूसरी ने आजादी के लिए लड़ने का संकल्प दिखाया।” (देखें, ‘राममनोहर लोहिया रचनावली’ खंड 9, संपा. मस्तराम कपूर, पृ. 413)

अगस्त क्रांति की पचासवीं वर्षगांठ देखने के लिए लोहिया जिंदा नहीं रहे। लोग मरने के बाद उनकी बात सुनेंगे, उनकी यह धारणा अभी तक मुगलता ही साबित हुई है। अगस्त क्रांति की पचासवीं वर्षगांठ 1992 में पड़ी। कहां लोहिया की इच्छा और कहां 1992 का साल! यह वह साल है जब नई आर्थिक नीतियों के तहत देश के दरवाजे बहुराष्ट्रीय कंपनियों की लूट के लिए खोल दिए गए और एक पांच सौ साल पुरानी मस्जिद को 'राममंदिर आंदोलन' चला कर ध्वस्त कर दिया गया। तब से लेकर नवउदारवाद और संप्रदायवाद की गिरोहबंदी के बूते भारत का शासक-वर्ग उस जनता का जानी दुश्मन बन गया है, जिसने भारत छोड़ो आंदोलन में साम्राज्यवादी शासकों के दमन का सामना करते हुए आजादी का रास्ता प्रशस्त किया था। जो हालात हैं, उन्हें देख कर कह सकते हैं कि नब्बे के दशक के बाद उपनिवेशवादी दौर के मुकाबले ज्यादा भयानक तरीके से जनता के दमन को अंजाम दिया जा रहा है।

अगस्त क्रांति दिवस के मौके पर हम यह विचार कर सकते हैं कि भारत छोड़ो आंदोलन की तर्ज पर 'बहुराष्ट्रीय कंपनियां भारत छोड़ो' के नारे क्यों कारगर नहीं होते, और क्यों कारपोरेट पूंजीवाद का कब्जा उत्तरोत्तर मजबूत होता जाता है? क्यों सारे देश को स्मार्ट नगर और सारी आबादी को उपभोक्ता (कंज्यूमर) बनाने का दुःस्वप्न धड़ल्ले से बेचा जा रहा है? कारण स्पष्ट है, भारत का शासक-वर्ग पूरी तरह से कारपोरेट पूंजीवाद का पक्षधर बन चुका है। देश के नेता, उद्योगपति, बुद्धिजीवी, लेखक, कलाकार, फिल्मी सितारे, पत्रकार, खिलाड़ी, जनांदोलनकारी, नौकरशाह, तरह-तरह के सिविल सोसायटी एक्टिविस्ट कारपोरेट पूंजीवाद के समर्थन और मजबूती की मुहिम में जुटे हैं। इनमें जो शामिल नहीं हैं, उनके बारे में माना जाता है उनकी प्रतिभा में जरूर कोई खोट या कमी है। नवउदारवाद और उसके पक्षधरों की स्थिति इतनी मजबूत है कि अब उनकी आलोचना भी उनके गुणों का बखान हो जाती है, और उनका पक्ष और मजबूत करती है।

जैसा कि हमने पहले भी कई बार बताया है, नवउदारवादियों के साथ प्रच्छन्न (छिपे हुए) नवउदारवादियों की एक बड़ी और मजबूत टीम तैयार हो चुकी है। वह शासक-वर्ग के साथ नाभिनाल-बद्ध है, और नवउदारवाद विरोध की राजनैतिक संभावनाओं को नष्ट करने में तत्पर रहती है। दरअसल, सीधे नवउदारवादियों के मुकाबले प्रच्छन्न नवउदारवादी जनता और समाजवाद के बड़े दुश्मन बने हुए हैं। नवउदारवाद के मुकाबले में उभरे सच्चे जनांदोलनों और समाजवादी राजनीति के प्रयासों को प्रच्छन्न नवउदारवादियों ने बार-बार भ्रष्ट किया है। इन्होंने एक बड़ा हल्ला, अंतर्राष्ट्रीय स्तर का, वर्ल्ड सोशल फोरम (डब्ल्यूएसएफ) के तत्वावधान में बोला था, और उससे बड़ा हमला, राष्ट्रीय स्तर पर, इंडिया अगेंस्ट करप्शन (आईएसी) के तत्वावधान में बोला हुआ है। प्रच्छन्न नवउदारवादियों के लिए सब कुछ अच्छा हो सकता है; बुरी है तो केवल राजनीति। हालांकि उनकी अपनी राजनीतिक ऐषणाएं शायद ही कभी एक पल के लिए सोती हों!

डब्ल्यूएसएफ के समय कम से कम सांप्रदायिकता से बचाव था। गैर-राजनीतिक रूप में ही सही, 'दूसरी दुनिया संभव है' का नारा था। आईएसी के आंदोलन में संप्रदायवादी और धर्मनिरपेक्षतावादी आपस में मिल गए हैं और वे एक 'जन लोकपाल' के बदले नवउदारवादी व्यवस्था और नेतृत्व को अभयदान देते हैं। आईएसी के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन का शुरुआती नारा था - 'मनमोहन सिंह वोट चाहिए तो जन लोकपाल कानून लाओ'। अब बाबा रामदेव कहते घूम रहे हैं, 'राहुल गांधी काला धन वापस लाओ, प्रधानमंत्री बन जाओ'। सुना है नवउदारवाद के उत्पाद इन बाबा ने विदेशों में जमा काला धन वापस लाने का आंदोलन फिर से छेड़ने के लिए अगस्त क्रांति दिवस को चुना है!

मुख्यधारा मीडिया पूरी तरह नवउदारवादियों और प्रच्छन्न नवउदारवादियों के साथ है, जिसमें नेता और मुद्दे कंपनियों के उत्पाद की तरह प्रचारित किए जाते हैं। नतीजा यह है कि भारतीय मानस संपूर्णता में शासक-अभिमुख यानी नवउदारवादी रुझान का बनता जा रहा है। नवउदारवादी नीतियों से प्रताड़ित जनता भी इस मुहिम की गिरफ्त में है। यह प्रक्रिया जब मुकम्मल हो जाएगी, कोई भी बदलाव संभव नहीं होगा। केवल फालतू लोगों का सफाया होगा। हम प्रच्छन्न नवउदारवादियों के इस तर्क के कायल नहीं हैं कि वे सरकार पर दबाव डाल कर गरीबों के लिए जनकल्याणकारी योजनाएं बनवाते हैं। उनकी यह मदद गरीबों को नहीं, कोरपोरेट घरानों को सुरक्षित करती है।

हम हाल का एक वाक्या बताना चाहते हैं। 8 जुलाई 2012 को पूना में समाजवादी नेता और लेखक/पत्रकार पन्नालाल सुराणा के सम्मान में एक कार्यक्रम आयोजित किया गया। अवसर उनके अस्सीवें साल में प्रवेश करने का था। कार्यक्रम के आयोजन में राष्ट्र सेवा दल की प्रमुख भूमिका थी, जिसके वे अध्यक्ष रह चुके हैं। महाराष्ट्र के हर जिले से आए करीब पांच सौ लोगों ने साने गुरुजी स्मारक पहुंच कर पन्नालाल जी को बधाई दी। व्यक्तिगत चंदा करके उगाहे गए ग्यारह लाख रुपयों का चेक भी उन्हें भेंट किया गया। सत्ता की राजनीति से बाहर किए गए राजनीतिक संघर्ष के लिए उत्तर भारत में ऐसा शालीन कार्यक्रम होना असंभव है। हमने अपनी आंखों से देखा कि एक व्यक्ति नंगे पैर आया और स्वागत कक्ष में चंदा देकर रसीद ली।

कार्यक्रम हालांकि पन्नालाल जी के अभिनंदन का था, लेकिन चर्चा ज्यादातर राजनीतिक हो गई। स्वागत समिति के अध्यक्ष भाई वैद्य ने पन्नालाल जी के व्यक्तित्व और लेखकीय कृतित्व के साथ समाजवादी आंदोलन में उनके राजनीतिक संघर्ष पर भी प्रकाश डाला। मुख्य अतिथि जस्टिस राजेंद्र सच्चर ने अपने वक्तव्य में अवसरोपयुक्त टिप्पणी करने के साथ कार्यक्रम की अध्यक्ष अरुणा राय को संबोधित करते हुए कहा कि वे एक बार फिर उन्हें सक्रिय राजनीति में

आने की अपील करके उलझन में डालना चाहते हैं। वे शायद पहले भी कतिपय अवसरों पर उनसे वैसी अपील कर चुके होंगे। उन्होंने दूसरे मुख्य अतिथि ऊर्जा मंत्री सुशील कुमार शिंदे को भी नवउदारवादी नीतियों के दुष्परिणामों की चर्चा करके उलझन में डाला। शिंदे साहब, जो कार्यक्रम में शुरू से अंत तक मौजूद रहे, का भाषण काफी लंबा था। वे नवउदारवादी नीतियों की जरूरत और उनसे होने वाले फायदों पर बोले। पन्नालाल जी को हालांकि आयोजकों और वहां आने वाले शुभेच्छुकों का धन्यवाद ही करना था, लेकिन समाजवादी प्रतिबद्धता और राजनीतिक संघर्ष के तहत उन्होंने अपने भाषण में शिंदे साहब की धारणाओं का जोरदार ढंग से खंडन किया।

हमें अच्छा लगा कि एक नागरिक अभिनंदन के कार्यक्रम में अच्छी-खासी राजनीतिक बहस सुनने को मिली। लेकिन आश्चर्य भी हुआ कि राष्ट्रीय सलाहकार समिति की सदस्य अरुणा राय ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में सक्रिय राजनीति की बात करने वालों पर बिना झिझक तानाकशी की। उनका निशाना स्पष्टतः कारपोरेट पूंजीवाद के खिलाफ समाजवाद की राजनीति करने वालों पर था। गोया सक्रिय राजनीति करने का अधिकार उस पार्टी और सरकार के लिए सुरक्षित है, जिसकी वे सलाहकार हैं! उन्होंने कहा कि वे राजनीति को ज्यादा अच्छी तरह समझती हैं, और जो कर रही हैं, वही सच्ची राजनीति है। उनके मुताबिक, यह उसी राजनीतिक चेतना का असर है कि लोग अब सवाल पूछ रहे हैं। उन्होंने वैसी ही सच्ची राजनीतिक चेतना फैलाने में नर्मदा बचाओ आंदोलन का हवाला भी दिया। अनुमान लगाया जा सकता है कि मनरेगा को वे अपने विचारों की राजनीतिक चेतना की देशव्यापी पाठशाला मानती ही होंगी। काफी ऊंचे ओटले से ऊंची आवाज में बोलते हुए उन्होंने घोषणा की कि असली आजादी तो अब आई है, जब उन जैसे सिविल सोसायटी एक्टिविस्टों ने लोगों को जागरूक करना शुरू किया है। अरुणा राय अपने वक्तव्य को लेकर इस कदर आत्मव्यामोहित थीं कि अपनी मान्यता और भूमिका पर रंच मात्र भी आलोचनात्मक निगाह डालने को तैयार नहीं दिखीं।

दरअसल, एनजीओ वालों का राजनीतिक संघर्ष से कोई वास्ता नहीं रहा होता। वे उसके बारे में वाकफियत भी नहीं रखना चाहते। वे गरीबों को साल में सौ दिन सौ रुपया का काम देने को बहुत बड़ी क्रांति मान कर अपनी पीठ ठोकते हैं, और इस सच्चाई से आंखें फेरे रहते हैं कि देश में कारपोरेट क्रांति हो चुकी है। अगस्त क्रांति के दिन यह समझना जरूरी है इन लोगों का स्वार्थ शासक-वर्ग के साथ नाभिनाल-बद्ध है। वरना सीधी बात है, यदि आप किसी सरकार या पार्टी की विचारधारा से सहमत नहीं हैं, तो उसके सलाहकार नहीं बन सकते; सामाजिक काम करने के लिए उस सरकार के प्रोजेक्ट नहीं ले सकते। सोनिया गांधी की सलाहकार समिति, जिसका सदस्य बनने के लिए मारामारी होती है, द्वारा जो भी काम संपादित होता है, सरकार के लिए होता है; और कांग्रेसनीत यूपीए सरकार कारपोरेट पूंजीवाद की पैरोकार सरकार है।

मजेदारी यह है कि जनता को धोखा देने का यह खेल खुले आम और बिना किसी ग्लानि के चलता है। अपने वायसराय को लिखे खत में लोहिया ने जिन्हें 'आपके आदमी' बताया है, सरकारों के सलाहकार बने प्रच्छन्न नवउदारवादी उसी श्रेणी में आते हैं। सोनिया गांधी के इन सलाहकारों से पूछा जा सकता है कि आप भारत की करोड़ों माताओं की दुर्दशा में शामिल हैं; उन माताओं के करोड़ों बच्चों के कुपोषण, बीमारी, असमय मृत्यु, अशिक्षा की जिम्मेदारी आप पर आयद होती है; बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा देश के संसाधनों की लूट, लोगों का विस्थापन और लाखों किसानों की आत्महत्या किसी दैवीय प्रकोप की नहीं, आपकी देन हैं; क्योंकि आप सरकार के सलाहकार हैं; और उस सरकार की राजनीति से अलग राजनीति के धुर विरोधी!

सीधे राजनीति ही रास्ता

भारत पर आए नवउदारवादी गुलामी के खतरे को सबसे पहले देख पाने वाले समाजवादी नेता और चिंतक किशन पटनायक ने यह माना था कि नवउदारवाद के विरोध और विकल्प के लिए जनांदोलनों का राजनीतिकरण और एकीकरण होना चाहिए। वह निश्चित ही एक प्रासंगिक और स्फूर्तिदायक विचार था। किशन पटनायक की साख भी थी, और समस्या की सम्यक समझ भी। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने कई वरिष्ठ और युवा समाजवादी साथियों के साथ मिलकर पहल की। 1995 में एक नई राजनीतिक पार्टी समाजवादी जन परिषद (सजप) का गठन हुआ, जिसके तहत वैकल्पिक राजनीति और वैकल्पिक विकास का विचार लोगों के सामने रखा गया। हालांकि किशन पटनायक की आशा फलीभूत नहीं हो पाई। भारत सहित दुनिया के सभी देशों में एनजीओ का तंत्र नवउदारवाद विरोधी किसी भी राजनीतिक पहल को निष्क्रिय करने के लिए स्वाभाविक तौर पर सक्रिय रहता है। उसी तंत्र में फंस कर किशन पटनायक की मौत हो गई।

नवउदारवाद के खिलाफ सजप के अलावा और भी कई राजनैतिक प्रयास हुए हैं। उदारीकरण के पहले 10 सालों में मुख्यधारा राजनीति की तरफ से भी उसके विरोध में कुछ न कुछ स्वर उठते रहे। देश पर देश के शासक-वर्ग द्वारा नवउदारवादी हमले के बाद उसका मुकाबला करने की प्रेरणा से चुनाव आयोग में बड़ी संख्या में राजनीतिक पार्टियों का पंजीकरण हुआ है। लेकिन कोई प्रयास कामयाब नहीं हो पा रहा है। बल्कि ऐसे प्रयासों को नवउदारवाद समर्थकों द्वारा लोकतंत्र को कमजोर करने वाला प्रचारित किया जाता है। इस गतिरोध के कई कारण हैं, लेकिन शासक-अभिमुख प्रच्छन्न नवउदारवादियों, जो कभी जनांदोलनकारियों के और कभी सिविल सोसायटी एक्टिविस्टों की सूरत में होते हैं, की नकारात्मक भूमिका उनमें प्रमुख है।

अगस्त क्रांति की सत्तरवीं सालगिरह पर हम यह समझ लें, कि एनजीओ आधारित जनांदोलनकारी राजनैतिक प्रयासों पर पानी फेरने का काम करते हैं, तो आगे का रास्ता बनेगा। कहने को ये गैर-सरकारी संस्थाएं हैं, लेकिन उनसे ज्यादा सरकारी सरकारों के अपने विभाग भी नहीं होते। इन्होंने जेनुइन प्रतिरोध आंदोलनों - चाहे वे किसानों के हों, आदिवासियों के हों, मजदूरों के हों, छोटे व्यापारियों के हों, निचले दरजे के सरकारी कर्मचारियों के हों या छात्रों के - आगे नहीं बढ़ने दिया। वैश्विक कारपोरेट पूंजीवाद की हमसफर फोर्ड फाउंडेशन, राकफेलर जैसी दान-दाता संस्थाओं और उसी तरह की बहुत-सी ईनाम-दाता संस्थाओं के धन ने समाजवादी राजनीति के रास्ते को अवरुद्ध किया हुआ है। जैसे बड़े नेता और पार्टियां अपने यहां स्वतंत्र राजनीतिक सोच के कार्यकर्ताओं को नहीं पनपने देते, वैसे ही प्रच्छन्न नवउदारवादी समाज में राजनीतिक पहल और प्रक्रिया को नहीं संभव होने देते। इनका मानना है कि हर कार्यकर्ता की कीमत होती है, उसे चुकाने वाला एनजीओ अथवा ईनाम-दाता संस्था होनी चाहिए। कहना न होगा कि कीमत और मुनाफे से जुड़ी यह सोच पूंजीवाद की पैदाइश है। इन्हें सुरक्षा का दोहरा कवच प्राप्त है - भारत के शासक-वर्ग का, और वैश्विक आर्थिक संस्थाओं का। इन्हें कारपोरेट पूंजीवाद के 'सिविल सुरक्षा बल' कहा जा सकता है।

एक और बात गौर की जा सकती है, अंग्रेजी नहीं जानने वाले लोग इनकी दुनिया के सदस्य नहीं बन सकते; उन्हें साम्राज्यवादी चाल के इन प्यादों का प्यादा बन कर रहना होता है। जनता की स्वतंत्र राजनीति भला ये कैसे बर्दास्त कर सकते हैं?

अगस्त क्रांति दिवस की सही प्रेरणा यही हो सकती है कि नव-साम्राज्यवादी गुलामी और उसे लादने वाले शासक-वर्ग के खिलाफ संघर्ष की राजनीति संगठित और मजबूत हो। बाकी सारे सामाजिक-संस्कृतिक प्रयास उस राजनीति को पुष्ट और बहुआयामी बनाने में लगे। हालांकि पूंजीवाद की चौतरफा गिरफ्त और कठिनाइयों में जीने की मजबूरियों ने देश की जनता को राजनीतिक रूप से लगभग अचेत कर दिया है। दरअसल, नवउदारवाद समाज में अराजनीतिकरण की प्रक्रिया को तेज करता है। इसलिए नई राजनीतिक पहल को जनता का समर्थन नहीं मिल पाता। मध्य-वर्ग राजनीति-द्वेषी बन गया है और दिन-रात उसका प्रचार करता है। इस तरह वह मौजूदा राजनीति को ही मजबूत करता है, जो धनबल, बाहुबल, संप्रदायवाद, जातिवाद, व्यक्तिवाद, परिवारवाद, वंशवाद, क्षेत्रवाद आदि के बल पर चलती है। ऐसे कठिन परिदृश्य में जो राजनीतिक संगठन जनता के पक्ष को मजबूत बनाने के लिए पारदर्शी और सतत राजनीतिक संघर्ष करेगा, एक दिन उसे सफलता मिलेगी।

हालांकि प्रच्छन्न नवउदारवादियों को दूर रखना बहुत मुश्किल होगा, लेकिन दूर रखे बगैर नवउदारवाद विरोध की राजनीति खड़ी नहीं हो सकती। 20-22 साल के अनुभव के बाद यह स्वीकार करना चाहिए कि अगर भारत में समाजवादी राजनीतिक ताकत खड़ी हो पाएगी, तो प्रच्छन्न नवउदारवादियों से बच कर ही हो पाएगी।

25 जुलाई 2012

(समाजवादी आंदोलन से जुड़े लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व शिक्षक और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के पूर्व फेलो हैं।)